डॉ० स्वदेश भटनागर की कविताएँ

पिता का नाम - स्व० श्री हरनारायन भटनागर

जन्म - 18 दिसम्बर 1954, आगरा (उ०प्र०)

शिक्षा - एम.ए.(हिन्दी,अंग्रेजी,दर्शनशास्त्र) पीएच.डी.,
(दर्शनशास्त्र) आगरा यूनीवर्सिटी, आगरा.

सृजन - ग़ज़ल, दोहे, नज्में,कतआत एवं गद्य कविताएँ

सम्मान - 'अक्षर शिल्पी',"एवं माहिर-ए-अदब",'सम्मान' अखिल भारतीय अम्बिका प्रसाद दिव्य, "स्मृति प्रतिष्ठा पुरुस्कार","काव्य महारथी, सम्मान" एवं 'अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य कला मंच थाईलैन्ड, कम्बोडिया, वियतनाम द्वारा साहित्य श्री पुरुस्कार से सम्मानित।

प्रकाशन - "काव्या", 'अर्बाबे. कल'म', 'सुमन सौरभ', 'नई ग़ज़ल', 'गुफ्तगू', 'शेष', 'सम्बोधन', 'लफ़्ज़', 'ग़ज़ल के बहाने' 'अहा जिदगी', 'दस्तावेज', 'संवदिया,' 'बुलन्द प्रवाह', मानस पत्रिका, अदम्य पत्रिका, उद्गम पत्रिका, 'समकालीन अभिव्यक्ति', 'आधारशिला साहित्यम','2020 की नुमाइंदा ग़ज़लें','संवेद','समकालीन भारतीयसाहित्य' (साहित्यिक अकादमी की त्रैमासिक पत्रिका), अनन्तिम, सरस्वती सुमन, 'ख्वाहिशों की रोशनी में','वागर्थ' (भारतीय भाषा परिषद की पत्रिका) 'अक्षर', 'पुष्पगंधा', 'सोचविचार', 'पूर्वापर', 'अनुकृति', 'प्रेरणा', 'अनुनाद' व्यंजना,(बेव पत्रिका) अभिनव प्रयास, दोआबा,सुसंभाव्य एवं "वर्तमान साहित्य", हरिगंधा (हरियाणा साहित्य अकादमी की पत्रिका), ककसाड़ (हिंदी साहित्य अकादमी की पत्रिका), मधुमती(राजस्थान अकादमी की पत्रिका), शब्दायतन, एवं अग्निमान, आदि। देश विदेश की प्रतिष्ठित एवं नामचीन पत्रिकाओं में प्रकाशित,

इसके अतिरिक्त कई पुस्तकों की समीक्षा का प्रकाशन, 'चार कविता संग्रह' प्रकाशित एवं एक प्रेस में आकाशवाणी रामपुर से रचनाओं का नियमित प्रसारण

संम्पर्क - निकट कैलटन स्कूल, लाईनपार, मुरादाबाद (उ० प्र०) - 244001

आश्चर्य

अपने जिस्म के केन्द्र में खड़ा हूँ मैं
मौन
एकांकी
स्वयं को देखता हुआ
स्वयं से अद्रश्य।

अद्रश्य धीरे-धीरे
ख़ाली कर रहा है मुझे

एक तितली-सा उड़ने लगा हूँ मैं
बिन पानी की नदी-सा बहने लगा हूँ मैं

ताकि
उसके साथ रह सकूँ
जिसके साथ रहना चाहता हूँ मैं
उसके बिना

यह कौन है जो
आकाश तक झुका रहा है मुझे।
****

एक आवारा विचार

मैं सोचता हूँ
तुम्हारी देह पर
मेरा हर स्पर्श
फूल की तरह खिल उठे।

जिस पर-
पक्षी चहचहाएँ
हमिंग वर्ड ठहर जाए
छाँव तले
गौरय्या नहाय
गडरिया बाँसुरी बजाए।

ब्रह्ममुहूर्त में जाते वक़्त परियाँ
अपनी चप्पलें पहनना भूल जाएँ।
और
मेरे बदन से हवन-सामिग्री की ख़ुशबू आने लगे।
****

वर्तमान

चीख़ों की तरह गोल हो गई पृथ्वी
कविता कैसे लिखूँ।

गली-मोहल्लों में
आवारों की तरह फिरने लगी हवाएँ
कविता कैसे लिखूँ।

शब्द पत्थरों की तरह निचुड़ने लगे
कविता कैसे लिखूँ।

सीने में साँसे बड़बड़ाते हुए चलने लगीं
कविता कैसे लिखूँ।

उजाले लड़खड़ाकर क़ब्रों में गिरने लगे
कविता कैसे लिखूँ।

सड़कें कबन्धों-सी नज़र आने लगीं
कविता कैसे लिखूँ।

आदमी का अर्थ
एक रुदन, एक मौन सिसकी, एक मौन क़दम
कविता कैसे लिखूँ।

आँसू तक नहीं बुझा पाते आाग
कविता कैसे लिखूँ।
****

द्रश्य-अद्रश्य के बीच

सुबह
बिजली के तार पर बैठी चिड़ियों को
शाम
लौटते परिन्दों को देखना
मुझे आँखों से बाहर कर देता है।

शाम
समुद्र किनारे
सुबह
नंगे पाँव घास पर टहलना
मुझे आध्यात्मिक बनाता है।

सुबह
खिड़की से सूर्योदय
शाम
छत से सूर्यास्त देखना
मुझे दिव्य उन्माद से भर देता है।

यों देखने में
कुछ जिन्दा हो जाता है
कुछ मर जाता है भीतर ही भीतर।

सम्बुद्धि से भरा
एक ख़ाली कैनवास
हर जगह हर पल हमारी प्रतीक्षा करता है।
****

फूल रहस्य

मैं
एक फूल सोचता हूँ
मेरा जीवन सुन्दर हो जाता है
मैं
एक फूल सोचता हूँ
मुझमें हर ख़ाली जगह
हल्केपन से भर जाती है
मैं
एक फूल सोचता हूँ
प्रेम का अर्थ समझने लगता हूँ

मैं
एक फूल सोचता हूँ
एक ग्रह सपने में दिखाई देता है
मैं
एक फूल सोचता हूँ
अपने होने का कारण मिल जाता है मुझे।

एक फूल
साँस लेता एक मनुष्य है
वर्तमान की चुप्पी है
आत्मा पर पड़ती परछाई है।

एक फूल
आकाश देखने की एक जगह है
आज के व्यस्त जीवन में।
****

आँसुओं की अंतर्यात्रा

फल के आँसू
वृक्ष तक पहुँच ही जाते हैं।

रेत के आँसू
पानी तक पहुँच ही जाते हैं।

प्यास के आँसू
समुद्र तक पहुँच ही जाते हैं।

साँझ के आँसू
सूर्योदय तक पहुँच ही जाते हैं।

सेब के आँसू
न्यूटन तक पहुँच ही जाते हैं।

गूंगे के आँसू
गुड़ तक पहुँच ही जाते हैं।

शब्द के आँसू
मिख़ाईल नईमी तक पहुँच ही जाते हैं।

विरह के आँसू
दो के होने के अकारण तक पहुँच ही जाते हैं।

अपने अद्रश्य में स्पष्ट होना चाहता हूँ मैं
स्पष्ट पुरुष है न स्त्री न मैं।
****

कविता-रहस्य

कविता
वह आकाश
जो हम सबके भीतर है।

कविता
अँधेरे का वह टुकड़ा
जो बाहर गश्त पर है।

कविता
जंगल का वह घरोंदा
शाम से पहले पंछी नहीं लौटता जिसमें।

कविता
आँख के अंधड़
में बर्फ़-सा ठण्डा कॉजल।

कविता
पृथ्वी के रस डूबी हुई
फूल होने की चिंता।

कविता
वह कबीलाई लड़की
जो ड्रैगन बन जाती है।

कविता
मंत्रो से लिखी हुई वह पाण्डुलिपि
जिसे कोइ डीकोड नहीं कर पाता।
****

जीवन के मध्य में

ऐसा क्यों है
जो कुछ भी मुझे मिलता है
प्यास की शक्ल में ही मिलता है।

चाहे

सम्पूर्ण हो क्षणभंगुर
सीधी रेखा हो या दोपहर
प्रेम हो या पागलपन
कप आधा भरा हो अथवा अधूरा जीवन
जीवन रेत हो या स्पर्श या हों इच्छाएँ
या हो अख़बार पढ़ती सुबह।

जन्म की शुरुआत से ही
घनी उदासी के बीच
सूर्य के कणों में
एक प्यास दिखाई देती है
अपनी मुस्कराहटों तक में
पानी ढूँढ़ने लगा हूँ मैं।

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते
इतना उलझ जाता हूँ प्यास में कि
एक नाम इतवार बनकर मेरी चाय में
कभी चीनी कम कर देता है
कभी ज़्यादा।

और अचानक मेरी ज़िन्दगी से
पेड़ पर्वत नदी सब ग़ायब हो जाते हैं
दूर पानी के अंकुरित होने की आवाज़
आती है मुझे।
****

शुगर फ्री

नदी तभी तक नदी है
जब तक वह प्यास का अंग है।

फूल तभी तक फूल है
जब तक वह आँख का हिस्सा है।

वृक्ष तभी तक वृक्ष है
जब तक वह परहित में लगा है।

शरीर तभी तक शरीर है
जब तक वह आत्मा से उगा है।

मैं तभी तक मैं हूँ
जब तक एक हरे वृक्ष की रोशनी
मुझ पर पड़ रही है।

हरी रौशनी के बसंत में
सरापा डूबा हुआ हूँ मैं।

फिर ये कौन
मेरी जिन्दगी में मात्रा पर मात्रा लगाकर
शुगर फ्री कर रहा है मुझे।
****

डिलीमा

मुझे मालूम है
सूर्योदय से पहले
साझँ का प्रकाश हुआ करता था मैं कभी।

मुझे मालूम है
पतझर के सुनसान से पहले
वसंत का उजाला हुआ करता था मैं कभी।

मुझे मालूम है
पृथ्वी की आँख होने से पहले
एक बैगंनी फूल हुआ करता था मैं कभी।

मुझे मालूम है
रोटी से पहले
गेहूँ की सुनहरी बाल हुआ करता था मैं कभी।

आाज सूरज की तरह पलटकर ख़ुद को
देख रहा हूँ।

चीज़ों का सुन्दर दिखना
मन का वहम है भाई !
****

देखना

जब तुम
पृथ्वी की छाँव पहनकर निकलते हो
खड़े-खड़े पेड़ चलने लगते हैं।

जब तुम
समुद्र की छाँव पहनकर निकलते हो
बहते-बहते नदी रुकने लगती है।

जब तुम
आकाश की छाँव पहनकर निकलते हो
योगी अपनी जटाओं में उलझने लगते हैं।

कभी-कभी यूं भी देखकर
अपने होने में खोना पड़ता है
अपने खोने में होना पड़ता है।
****

आजकल

एकांत भरी रातों में
जम रहे चाँद।

प्यासी उँगलियों से
फिसल रही नदी।

आँखों में बूँद-बूँद हो रहे वृक्ष

पत्थरों में धँस रहे
बारिश के मौसम।

जगह-जगह से
चटक रही पेड़ों की छाँव।

हवा ठण्डा नहीं कर रही हमें

किताब के पन्नों की सहजता से
कुछ भी नहीं खुल रहा आजकल।
****

मग्न होकर

बैठे-बैठे अचानक
ख़ुद को पश्चिम लिख दिया मैंने
और
चलने लगा साँझ की ओर
उदय होने के लिए।

ये जिस्म के उभार जैसे पर्वत
ये उँगलियों जैसी नदी
ये देह पर रूएँ जैसे वृक्ष
आँख की रोशनी सी फैली हरीतिमा
मुझे मेरा प्रतिबिम्ब लगने लगीं।

देर तक ख़ुद को देखता रहा

और फिर
जिस्म की दीवार से होता हुआ
बाहर निकल गया मैं
जहाँ निर्वात से भरे लम्हे तड़प रहे थे।

धूल से ढँका मैं
समझ नहीं पा रहा था
क्या करुँ, क्या न करुँ, किधर जाऊँ।

इसी बेचैनी में
दुनिया को धुँधला देखा मैंने
हर नरम चीज़ टूट रही थी जिसमें।